प्रकृति और साहित्य

– डॉ. लज्जा पन्त (भट्ट)
सीनियर असिस्टैण्ट प्रोफेसर,
(संस्कृत विभाग) कुमाऊँ वि.वि.
नैनीताल, (उत्तराखण्ड)

प्रकृति अपने नाना रूपात्मक विराट् प्रसार को लेकर मनुष्य के हृदय पर अनेक संस्कार डाला करती है और मनुष्य की रागात्मक भावना उनसे घुल मिल कर उन्हें साहित्य के रूप में असाधारण बना देती है। अतः साहित्य जहाँ मानव की अन्तः प्रवृत्तियों का उद्घाटन करता है, वहाँ प्रकृति के नाना रूपों के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्धों की भी व्याख्या करता है। इस प्रकार प्रकृति भी साहित्य की एक अत्यन्त बलवती प्रेरणा है।

मनुष्य और प्रकृति का सम्बन्ध भी उतना ही पुराना है जितना कि सृष्टि के उद्भव और विकास का। दार्शनिकों, धार्मिकों एवं विज्ञानवेत्ताओं ने अनेक प्रकार से प्रकृति की व्याख्या करने की चेष्टा की है, किन्तु साधारण बोल–चाल में प्रकृति मानव का प्रतिपक्ष है। दार्शनिक दृष्टि से भले ही मनुष्य 'प्रकृति' के अन्तर्गत हो, किन्तु अहं भावना के कारण वह अपने को उससे अलग मानता है। व्यवहार में वह मानवेतर जगत् को ही प्रकृति कहता है और स्थूल अर्थों में लिया जाय, तो मानवेतर जगत् का जो अंश इन्द्रियागोचर है, वही प्रकृति है। प्रकृति का अर्थ है स्वभाव और जो कुछ स्वाभाविक है, मनुष्य द्वारा नहीं बनाया गया है, वह सब 'प्रकृति' शब्द में समाविष्ट है। मनुष्य के लिए प्रकृति शब्द का आशय उस विस्तृत मानवेतर जगत् से है, जिसके साथ उसका सम्बन्ध अनादि काल से अक्षुण्ण चला आ रहा है। प्रकृति के ही परिवेश में मनुष्य जन्म ग्रहण करता है, विकास के पथ पर चलता हुआ जीवन व्यतीत करता है और अनेक संस्कार ग्रहण करता है।

मानव–सभ्यता ने जब प्रकृति के सुरम्य क्रोड में नेत्रोन्मीलन किया तब प्रकृति ने अनेक प्रकार से उसे प्रभावित किया। बौद्धिक विकास के इस प्रथम सोपान पर प्रकृति के सुरम्य रूपों के प्रति मानव के मन में प्रशंसा का भाव जागा और वह उसकी ओर आकृष्ट हुआ। प्रकृति के रौद्र रूपों ने जब उसे भयग्रस्त कर दिया, तो मनुष्य ने उन्हें अपने से शक्तिशाली समझकर, प्रसादनार्थ उनका पूजन आरम्भ कर दिया एवम् उन्हें देवता–रूप में प्रतिष्ठित कर लिया। प्रकृति के अद्भुत स्वरूपों ने अपनी भव्यता से अभिभूत करके उसके मन में अनेक प्रश्नों को जन्म दिया। जिज्ञासा से बुद्धि को प्रेरणा मिली और मनुष्य ने प्रकृति को जब निकट से देखना और परखना आरम्भ किया, तब प्रकृति कौतूहल और भय की वस्तु मात्र न रहकर उसकी सहचरी बन गई, तब मनुष्य ने उसके सुरम्य रूपों की सराहना की और उसके भीषण रूपों को भी उसने समझना चाहा।

अपने भाव से साम्य या वैषम्य रखती हुई प्रकृति कभी रस–रास सहायिका एवं व्यथा–विनोदन करने वाली प्रतीत हुई, तो कभी अपने से निरपेक्ष स्वकीय राग–रंग में डूबकर शत्रु–सी प्रतीत हुई। प्रकृति के नानाविध उपकरणों के सौन्दर्य ने उसके मन को इतना प्रभावित किया कि उसने प्रकृति को ही मानव–सौन्दर्य का मापदण्ड स्वीकार कर लिया। प्रकृति में विरामजमान व्यवस्था एवं नियमशीलता से मानव ने अपने जीवन–दर्शन को नियमित किया और प्रकृति के उदात्त आदर्शों को प्रतीक स्वरूप अपना प्रकाश स्तम्भ स्वीकार किया। प्रवृत्ति की दशा में प्रकृति का सम्बन्ध उससे बना रहा, परन्तु प्रकृति के अतिरिक्त स्वयम् अपने आपको भी मनुष्य ने महत्त्व दिया और निवृत्ति की दशा में केवल प्रकृति का आश्रय लेकर, प्रकृति से प्रकृति का नियमन करने वाली उस अव्यक्त शक्ति का, स्वयं प्रकृति जिसका व्यक्त प्रसार कहलाती है, मनुष्य ने साक्षात्कार किया। इस प्रकार आध्यात्मिक, शारीरिक एवं मानसिक सभी दृष्टियों से 'प्रकृति' मनुष्यजीवन को उन्नति के पथ पर अग्रसर करती रहती है।

जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में अपना साथ देने वाली प्रकृति के साथ हृदय के जिस रागात्मक सम्बन्ध की अनुभूति मानव को हुई, कलात्मकता एवं कोमलता के साथ उसे दूसरों पर व्यक्त करने की इच्छा ने मनुष्य को कलाकार बना दिया। सभी कलाओं के आश्रय से कवि ने सहचरी प्रकृति का अभिव्यंजन किया, परन्तु उसका सबसे अधिक यथातथ्य स्वरूप का चित्रण उसने काव्यकला में किया। प्रकृति के जड़ और चेतन दोनों ही रूप कवि की विराट् संवेदना का अंग बनकर सरस एवं सुन्दर प्रकृति–कविता के रूप में ढल गए। यही कारण है कि विश्वसाहित्य में प्रकृति–वर्णन की अनिवार्यता स्वीकार की गई है।

सृष्टि के साथ मानव–हृदय की एकता का रागात्मक सामंजस्य स्थापित करना कवि की चेतना का लक्ष्य होता है। इसीलिए प्रकृति के साथ मानव के सहज सम्बन्धों की व्याख्या साहित्य का विषय बन जाती है। हमारे भारतीय साहित्य में आरम्भ से ही प्रकृति की निःसीम सुषमा एवं रूप–वैचित्र्य ने ऋषियों की काव्यप्रतिभा को प्रेरणा प्रदान की। वैदिकसाहित्य 'प्रकृति और साहित्य की अभिन्नाता का ज्वलन्त उदाहरण है। प्रकृति के क्षण–प्रतिक्षण परिवर्त्यमान स्वरूपों में वैदिक ऋषि को किसी व्यापक एवं नियामक सत्ता का भान हुआ है और प्रकृति के सौन्दर्य एवं चेतना में उसे अपने जीवन की अनुरूपता प्राप्त हुई है।

परवर्ती काल में भी कवियों के हृदय में प्रकृति के प्रति आकर्षण स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। महाकाव्य–काल प्रकृति और साहित्य की अभिन्नता का एक अत्यन्त मार्मिक निदर्शन है। व्याध के निष्ठुर शर से काममोहित क्रौंचयुग्म में से एक का वध और दूसरे का अपने मृत सहचर के प्रति क्रन्दन सुनकर आदिकवि वाल्मीकि का मानस करुणा से आन्दोलित हो उठा था और उनकी व्यथा ने छन्दोमयी वाणी के रूप में काव्य का सृजन कर डाला।[1]

वाल्मीकि रामायण का उपर्युक्त उदाहरण ही इस सत्यता का प्रतिपादन करने के लिए पर्याप्त है कि प्रकृति मनुष्य के भावस्फोट का कारण बनती रही है। ज्ञातव्य है कि कवि की अन्तःप्रकृति पर बाह्यप्रकृति जो प्रभाव डालती है, उसी की सरस एवं संवेदनीय अभिव्यंजना 'काव्य' है। साहित्यसृष्टि के मूल में रहने के साथ–साथ प्रकृति 'कवि' की अभिव्यक्ति को सुन्दर बनाने में भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग देती है। प्राकृतिक उपमानों की योजना महाकवियों की सौन्दर्यसाधना का अनिवार्य अंग रही हैं। इतना ही नहीं प्रकृति के शाश्वत विलास को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाकर कवि नश्वर मानवसौन्दर्य को भी अनश्वरता प्रदान कर देता है।

प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति मनुष्य का जो सहज आकर्षण है, उसकी अभिव्यक्ति साहित्य में प्रकृति के संश्लिष्ट चित्रण एवम् उसके प्रति आश्रय के आह्लाद का निरूपण करके की जाती है, किन्तु ऐसा आश्रय भावशून्य स्थिति में ही संभव है। किसी अन्य को लेकर प्रभावित हुई आश्रय की मनःस्थिति को प्रकृति के नाना रूप किस प्रकार साम्य अथवा वैषम्य के आधार पर उद्दीप्त करते हैं, मनुष्य की भावनाओं के उद्दीपन में प्रकृति का क्या योग है, इसे भी कवि सम्यक् रूप से प्रदर्शित करता है। प्रकृति के साथ जिस आत्मीय सम्बन्ध की अनुभूति मनुष्य करता रहता है, प्रकृति के मानवीकृत रूप को काव्य में स्थान देकर, साहित्यकार उसकी भी विशद व्याख्या कर डालता है।

प्राकृतिक सौन्दर्य पूर्ण, निष्काम, नित्य नवीन, एवं चिरन्तन है। इस सौन्दर्य का साक्षात्कार प्रायः हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेता है कि हम कुछ काल के लिए अपने आपको भूल कर उस सौन्दर्य की भावना के रूप में परिणत हो जाते हैं। यही सौन्दर्य की अनुभूति है और इसी सौन्दर्य के धरातल पर, कवि की अनुभूतिजन्य भावना और कल्पना द्वारा 'काव्य और प्रकृति' का संगम होता है, यही साहित्य का चरम लक्ष्य है।

प्रकृति के सन्दर्भ में भारतीय काव्यसमीक्षा एवं काव्यपरिपाटी में भेद रहा है। आरम्भिक महाकाव्यों में प्रकृति को विभाव की कोटि में आलम्बन मानकर किया गया, अत्यन्त संश्लिष्ट एवं सहज दोनों ही प्रकार का प्राकृतिक चित्रण उपलब्ध है, जिसमें प्रकृति के प्रति मानवहृदय के निरपेक्ष उल्लास की अभिव्यंजना हुयी है। हमारे काव्यशास्त्रियों ने महाकाव्य के लक्षण बताते हुए उसमें बाह्यदृश्य–चित्रण को भी अनिवार्य बताया है और उनमें यथास्थान किन प्राकृतिक रूपों अथवा उपकरणों का समावेश होना चाहिए, इन सबका अक्षरशः नामोल्लेख भी किया है।[2] प्राचीन संस्कृतकाव्यों में प्रकृति के प्रति मानव के सहज प्रेम का सुन्दरता से उद्घाटन किया गया है। प्रकृति वहाँ कवि के भावों का आलम्बन बनी है। यह आलम्बनगत अथवा यथास्थित प्रकृति का चित्रण भी केवल सुरम्य एवं सुकुमार प्रकृति चित्रों तक ही सीमित नहीं रहा है, अपितु उसमें उसके भीषण एवं पुरुष दृश्यों का चित्रण भी समाविष्ट हैं। भावुक कवियों की विलक्षण सौन्दर्यग्राही दृष्टि ने इनमें भी एक विशिष्ट सौन्दर्य के दर्शन किये हैं। स्वभावतः प्रकृति के साथ तादात्म्यानुभूति के कारण भावुक कविगण सहजभाव से इस प्रकार के चित्रणों का समावेश काव्य में करते चले आये हैं। ध्यातव्य है कि काव्यशास्त्रियों द्वारा निर्दिष्ट प्राकृतिक दृश्ययोजना के निर्वाह में यह स्वाभाविक उल्लास एवं प्रकृति के प्रति सहज प्रेम की भावना कुण्ठित–सी हो जाती है।

मनुष्य स्वभाव से ही सौन्दर्य–पिपासु है, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति में यह क्षमता नहीं होती है कि वह प्रकृति व जीवन के सौन्दर्य को भलीभाँति हृदयंगम कर सके। प्रकृति से युग–युग के परिचय का संस्कार लिये हुए कवि प्राकृतिक सौन्दर्य के सम्पर्क में आकर अनुभूतिशील हो उठता है तथा सूक्ष्म निरीक्षण युक्त सरस एवं स्वाभाविक प्राकृतिक चित्रण से पाठक के हृदय को चमत्कृत करते हुए, उसकी सौन्दर्यपिपासा को शान्त कर देता है। वैदिक कवियों के प्राकृतिक गीत, वाल्मीकि, कालिदास एवं भवभूति कृत प्रकृति के सहज स्वरूप के समस्त अंगों के चित्रण, इस तथ्य के परिचायक हैं कि प्राकृतिक सौन्दर्य मनुष्य के मन में भावोद्बोधन करने में सर्वथा समर्थ हैं। प्रकृति का सान्निध्य मनुष्य को अपरिमित आनन्द प्रदान करता है।

वस्तुतः प्रकृति का आलम्बन रूप में चित्रण ही प्रकृति का प्राकृतिक स्वरूप है। उद्दीपन आदि के रूप में किये गये प्राकृतिक चित्रण में भावारोपण के कारण कृत्रिमता आ जाती है। जैसे–जैसे प्रकृति का प्रयोग शुद्ध प्रेरणा से न होकर उपयोगिता की दृष्टि से किया जाने लगता है और आलम्बन की अपेक्षा उद्दीपन को महत्त्व दिया जाने लगता है, वैसे–वैसे साहित्य की स्वाभाविकता नष्ट होने लगती है और उसमें रूढ़िवादिता प्रवेश करने लगती है। भारतीय काव्यशास्त्रियों ने प्रकृति को केवल उद्दीपन रूप में मान्यता दी है और उसे तटस्थ उद्दीपन के अन्तर्गत रखकर यहाँ भी उसकी सीमाएँ निर्धारित कर दी हैं। इन सीमाओं में ज्योत्स्ना, धारागृह, चन्द्रोदय, कोकिलालाप, मन्द पवन, भ्रमर, लतामण्डप, भूगृह, बावड़ियाँ, मेघगर्जन, संगीत, क्रीडा, शैल, सरिता आदि तटस्थ उद्दीपन हैं।[3]

उद्दीपनरूप में चित्रित प्रकृति का मनुष्य से परोक्ष सम्बन्ध होता है। प्रकृति से चिरन्तन सम्बन्ध रहने के कारण मन की किसी भी भावस्थिति में मनुष्य प्रकृति को अपने समान ही अनुभव करता है। भावस्थिति का व्यापार 'साम्य' और 'वैषम्य' दोनों को लेकर चलता है। कभी प्रकृति का उल्लास आश्रय के चित्त की आनन्दपूर्ण स्थिति में उसके हर्ष को द्विगुणित कर देता है और कभी उसकी व्यथा से निरपेक्ष, अपने रागरंग में लीन रहकर उसे कष्ट पहुँचाता है। संयोग में प्रकृति के सुखद या दुःखद रूप उसके आनन्द या अवसाद का कारण बनते हैं। स्वाभाविक मनोदशा में विकार उत्पन्न होने पर प्रकृति भी मनःस्थिति के तत्कालीन रंगों से रंजित हो उठती है। विरह के अन्तर्गत उन्माद की भावदशा में पहुँचकर एकरूपा प्रकृति ही आश्रय की विविध प्रकार की चेष्टाओं में व्यस्त प्रतीत होती है। उस समय प्रकृति काव्यशास्त्रियों द्वारा खींची गई तटस्थ उद्दीपनरेखा का उल्लंघन करके, मनुष्य की भावनाओं के अनुरूप आचरण करती हुई प्रतीत होती है। भावुक कवि अपनी कृति में मनुष्य की भावनाओं में उद्दीपन रूप में प्रकृति के योग का सुन्दर चित्रण कर देते हैं।

साहित्य में प्रकृति के केवल आलम्बन अथवा उद्दीपन स्वरूप का ही चित्रण नहीं हुआ है, अपितु उसका मानवीकरण भी किया गया है। प्रकृति से अपने चिरसाहचर्य के कारण मानव ने उससे आत्मीयता का सम्बन्ध भी स्थापित कर लिया है। जननी, सखी, प्रेयसी एवम् उपदेशिका के रूप में 'प्रकृति' मानव के अत्यन्त निकट आ गई। यही कारण है कि मानव ने प्रकृति को अपनी जीवनदशा से साम्य रखने वाली एवं सुख–दुःखमयी परिस्थितियों में अपने ही भाँति सुखी अथवा दुःखी अनुभव किया है। प्रकृति के बिखरे हुए सौन्दर्य में वह अपने जीवन की अनुरूपता पाता है, इसीलिए उसके ऊपर अपनी जीवनशक्ति का आरोप कर देता है और उसके विविध अंगों में प्राणप्रतिष्ठा कर डालता है। उस समय प्रकृति अपना जड़त्व छोड़कर मनुष्य की ही भाँति सजीव एवं भावनाशील प्रतीत होने लगती है। प्रकृति के सजीव अंगों, पशु–पक्षियों आदि में तो मानवसुलभ चेङ्काएँ और व्यापार प्रायः मिल ही जाते हैं, किन्तु प्रकृतिप्रेमी कवि जड़प्रकृति तक में, लता, वृक्ष, सरिता, सागर आदि में भी, चेतना एवं भावापन्नता का आरोप कर लेता है। यही प्रकृति के मानवीकरण का रहस्य है। काव्यशास्त्रियों ने निरिन्द्रियों पर चेतना के आरोप को भले ही भावाभास कहा हो, किन्तु मानव युगों–युगों से प्रकृति को अपने सुख–दुःख की गाथा सुनाता रहा है और उसकी संवेदना का प्रतिस्पन्दन भी अनुभव करता रहा है।

प्रकृति कवि की अनुभूतियों की सरस एवं सशक्त अभिव्यंजना करने का भी प्रमुख साधन है। अपनी अभिव्यक्ति को, भाव और वस्तु को, अधिक स्पष्टता से और सुन्दरता से प्रस्तुत करने के लिए कवि जो अप्रस्तुतयोजना किया करता है, उसका आधार प्रायः प्रकृति के विभिन्न उपकरण एवं व्यापार ही हुआ करते हैं। प्रकृति की सौन्दर्यभावना के साथ, जो अमिट संस्कार कवि के मानस पटल पर रहता है, उसके कारण सादृश्यसंयोग एवं प्रभावसाम्य के आधार पर वह अपने समस्त उपमान प्रकृति के ही विशाल प्रांगण से चुनता है।

प्रभावसाम्य को दृष्टि में रखकर की गई अप्रस्तुतयोजना ही सुन्दर होती है, केवल रंग–रूप का साम्य मात्र दिखा देना यथेष्ट नहीं होता। किसी के रूप–सौन्दर्य का वर्णन करते समय कवि उसके भिन्न–भिन्न अंगों की सौन्दर्य व्यंजना कहीं पृथक् उपमानों से करता है और कहीं एक ही रूपस्थिति का सौन्दर्य अनेक प्राकृतिक उपमानों की सहायता से उपस्थापित करता है। यही कारण है कि मानवीय सौन्दर्य को प्राकृतिक सौन्दर्य का अंग माना गया है। इस प्रकार रूप, गुण और क्रियासाम्य के आधार पर मानवीय सौन्दर्य एवं मानवीय व्यापारों तथा प्राकृतिक सौन्दर्य में सामंजस्य स्थापित किया गया है। सूर्य, चन्द्र, मेघघटा, मीन, मृगनेत्र, शुक, विम्बाफल, कमल, प्रवाल, मुक्ता, शंख, मृणाल, सिंह आदि प्रकृति से लिए गए प्रसिद्ध उपमानों के निदर्शन हैं। उपमा अलंकार का प्रयोग करते हुए कवि ने प्रस्तुत मानवीय सौन्दर्य एवम् अप्रस्तुत प्राकृतिक उपमान में साम्य एवं साधर्म्य स्थापित किया गया है। रूपक अलंकार के माध्यम से मानवीय सौन्दर्य पर प्राकृतिक सौन्दर्य का आरोप किया गया है। उत्प्रेक्षा का आश्रय लेकर मानवीय सौन्दर्य में प्राकृतिक सौन्दर्य की सम्भावना की गयी है।

कवियों ने अपनी–अपनी प्रतिभा एवं भावना के अनुसार प्रसिद्ध प्राकृतिक उपमानों की नवीन परिस्थितियों में उद्भावना करके नए–नए प्राकृतिक दृश्यों एवं पदार्थों को उपमान के रूप में ग्रहण करके अपनी सौन्दर्य–भावना की यथेच्छ सरस एवं सशक्त अभिव्यक्ति की। अन्योक्ति के माध्यम से उसने प्रकृति के एक से एक सुन्दर एवं मार्मिक दृश्यों को चुन कर अपनी भावाभिव्यक्ति का साधन बनाया, जैसा कि महाकवि कालिदास ने मानव एवं मानवेतर प्रकृति में भावसाम्य स्थापित करते हुए यक्ष की विरहव्यथा को उद्घाटित किया है।[4]

लाक्षणिक ढंग से भावव्यंजना कराने के निमित्त भी साहित्य में प्रकृति का उपयोग किया जाता रहा है। प्रतीक रूप में भी प्राकृतिक उपादनों एवं व्यापारों का प्रयोग प्रत्येक देश के साहित्य में होता रहा है। प्रकृति की किसी विशेष वस्तु या व्यापार को किसी भावविशेष का प्रतिनिधि स्वीकार करके उसे उस भाव के प्रतीक की संज्ञा दे दी जाती है। प्रत्येक प्राकृतिक पदार्थ किसी अनिवार्य सत्य एवं सुन्दर आदर्श का प्रतीक बनकर कवि के सम्मुख उपस्थित होता है। इस प्रकार पृथ्वी, पर्वत, पवन आदि क्रमशः क्षमा, स्थिरता एवम् अनवरत सेवावृत्ति के आदर्श उपस्थित करते हैं। 'हंस' न्याय का प्रतीक है, तो 'अंधकार' अज्ञान का। चातक, मीन आदि एकनिष्ठ प्रेम का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, तो भ्रमर चंचल एवं विलासी प्रेमी का। इन प्रतीकों का प्रयोग प्राचीन साहित्य में भावव्यंजना कराने की अपेक्षा मानवजीवन के नियमन के लिए अधिक हुआ है। इन प्रतीकों के माध्यम से 'प्रकृति' मनुष्य की भावनाओं को उदात्त बनाती है और उसके जीवन को अनुशासित करती है।

मानवीय भावनाओं और क्रिया–कलापों की पृष्ठभूमि के रूप में भी प्रकृति का प्रयोग साहित्य में हुआ है। इसकी पूर्ण महत्ता प्रतिपादित करने के लिए कवि उनके साथ प्रकृति की योजना भी करता है और ये प्राकृतिक–चित्रण मानवीय प्रसंगों की व्याख्या एवं मूल्यांकन करते हैं। देश एवं काल की पृष्ठभूमि के रूप में प्रयुक्त प्रकृति कभी मानव की हृदयस्थिति से प्रभावित सी होती है और कभी उसकी मनोदशा से नितान्त निरपेक्ष अपनी स्वाभाविक गति में लीन रहकर इस वैषम्य से उसके तत्कालीन भाव को अधिक घनीभूत कर देती है। मनुष्य की मनोवृत्तियों का निर्धारण प्रायः प्रकृति पर ही आश्रित होता है। पृष्ठभूमि के रूप में चित्रित प्रकृति का संकेत मात्र पर्याप्त होता है, किन्तु वातावरण–निर्माण के निमित्त प्रकृति की सुसम्बद्ध योजना आवश्यक होती है।

काव्य में प्रकृतिचित्रण करते समय यद्यपि यह ध्यान प्रायः रखा जाता है कि ये प्रकृतिचित्रण प्राकृतिक सत्यों के अनुरूप ही हों, परन्तु कवि इन नियमों का पालन करने के लिए सर्वदा बाध्य नहीं होता है। कभी–कभी कविगण प्रकृति–विषयक ऐसी मान्यताएँ स्थापित कर लेते हैं, जो देश और काल के विचार से सत्य नहीं हुआ करती हैं, फिर भी उनका प्रयोग काव्य में किया जाता है। इस प्रकार के वर्णनों को साधारणतः 'कविप्रसिद्धि' कहते हैं। राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमांसा' में इन्हें 'कविसमय' कहा है, जिसका अर्थ है 'कवियों का आचार या सम्प्रदाय'। राजशेखर का मत है कि देश–कालवशात् यदि उन प्राकृतिक सत्यों में कुछ व्यतिक्रम भी हो गया हो, तो चूँकि उन्हें आर्षकवियों ने देशान्तरों आदि का भ्रमण करके और वेदों, शास्त्रों आदि का अध्ययन करके निर्धारित किया है, अतः उन्हें अस्वीकार नहीं करना चाहिए। ये प्रसिद्धियाँ वृक्ष, पशु, पक्षी आदि सभी को लेकर स्थापित की गई हैं। साथ ही कुछ बातें जो वास्तव में सत्य होती हैं, उनका वर्णन न करने की भी परम्परा बन गई है।[5] विभिन्ना वृक्षों के पुष्पित होने का कारण सुन्दरियों की विविध चेष्टाओं को माना गया है। चन्दन में फूल होते हैं, परन्तु उनका वर्णन साहित्य में नहीं किया जाता। चकोर का चन्द्रकिरण–पान, चातक का स्वातिनक्षत्र के जल के प्रति अनन्य अनुराग और हंस का नीर–क्षीर–विवेक आदि भी 'कविसमय' ही हैं।

इस प्रकार बहुमुखी प्रकृति अपने विविध स्वरूपों में मानवजीवन से घुल–मिल जाती हैं और सहृदय कवि घुलनशील प्रकृति के जीवन के विविध अंगों से सामंजस्य स्थापित करके उसे आलम्बन, उद्दीपन, अलंकार आदि विविध साहित्यिक विधाओं के रूप में अभिव्यक्त कर देता है। साहित्य के दोनों पक्षों में प्रकृति का प्रयोग होता है। वह कलापक्ष को भी उत्कृष्ट बनाती है और भावपक्ष को सशक्त रूप भी प्रदान करती है।

प्राचीन भारतीय साहित्य में प्रकृतिचित्रण की अविच्छिन्न परम्परा उपलब्ध होती है। प्रकृति के विविध रूपों एवं दृश्यों का वैदिक कवियों का अध्ययन एवं अंकन अत्यन्त सूक्ष्म एवं संश्लिष्ट है। उषा, सविता, वरुण, चन्द्र, मरुत्, आदि प्राकृतिक तत्त्वों का विशद चित्रण यद्यपि वेदों में देवतापरक दृष्टि से किया गया है, किन्तु इन स्तवनों के मूल में प्राकृतिक तत्त्वों के भौतिक रूप की झाँकी भी दृष्टिगोचार होती है। पर्जन्यस्तुति में वर्षा के यथार्थ स्वरूप का सर्वप्रथम चित्रण प्राप्त होता है, जहाँ पर वर्णित है कि जिस समय पर्जन्य अपने वीर्य को लेकर पृथिवी की सहायता के निमित अग्रसर होता है, उस समय आँधियाँ

चलती हैं, बिजलियाँ चमकती हैं, वनस्पतियाँ ऊपर की ओर उभरने लगती हैं तथा सम्पूर्ण विश्व के प्राणियों के लिए अन्न उत्पन्न हो जाता है।[6] सूर्य, उषा आदि मानवी चेतना से अनुप्राणित वर्णन इसके उदाहरण हैं। उषा कहीं सद्यःस्नाता तरुणी के रूप में, कहीं लज्जाशीला बालिका की भूमिका में, कहीं माँ के द्वारा सजाई गई नवयौवना के रूप में इन कवियों के सम्मुख आई है।[7]

लौकिक साहित्य में भी प्रकृति अत्यन्त सुन्दर रूप में अवतीर्ण हुई है। 'रामायण' एवं 'महाभारत' इन दोनों आर्ष प्रबन्धकाव्यों में प्रकृतिचित्रण के अनेक सुन्दर स्थल हैं। प्रकृति विविध प्रकार से इन काव्यों में अंकित की गई है, फिर भी 'रामायण' एवं 'महाभारत' के प्रकृतिवर्णन में पर्याप्त अन्तर है। विविध–कथा– संकुल प्रवाह में विस्तृत 'महाभारत' में प्रकृतिचित्रण के पर्याप्त अवसर नहीं आ सके हैं और उसमें घटना को स्थिति प्रदान करने के लिए ही प्रायः प्रकृति की योजना की गई है। चुने हुए उपकरणों की रेखाओं से इन चित्रों का संकेत देकर कवि पुनः अपनी कथा में लीन हो जाता है।[8] अरण्य में भटकती हुई निःसहाय 'दमयन्ती' का भयावह चित्रण करते हुए महर्षि व्यास जी लिखते हैं कि दमयन्ती ने उस अद्भुत वन को देखा, जहाँ डरावनी कन्दराएँ, भयानक आकृति वाले पिशाच, सर्प और राक्षसों तथा सरोवरों, जलाशयों एवं पर्वतों की चोटियाँ ही चारों ओर दिखाई दे रहीं थीं।[9]

प्रस्तुत चित्रण में प्राकृतिक उपकरणों का इस सघनता से वर्णन किया गया है कि दृष्य अत्यन्त भयावह बन गया है। वस्तुतः 'महाभारत' में मानव और प्रकृति में आत्मीयता या पारस्परिक भावशीलता का अवकाश बहुत कम है, फिर भी 'महाभारत' में ऐसे अनेक स्थल हैं, जिनका चित्रण सघन वातावरण में किया गया है।[10] घटना रूप में उपस्थित प्रकृतिचित्रण भी काव्यात्मक एवं सजीव हैं। उद्दीपन रूप में प्रकृति चित्रण भी महाभारत में अत्यन्त बिखरे हुए रूप में अनेकशः प्राप्त होता है।[11]

'रामायण' का अध्ययन हमें यह बतलाता है कि महर्षि वाल्मीकि ने मानव और प्रकृति की घनिष्ठता का निरन्तर निर्वाह किया है। किम्बहुना वाल्मीकि ने प्रकृति को अपने नित्यजीवन से घुला–मिलाकर देखा था और उसके नाना क्षेत्रों में विकीर्ण सहज एवं मुक्त सौन्दर्य से वे प्रभावित भी हुए थे। 'रामायण' की रचना की प्रेरणा के मूल में स्वयं प्रकृति के एक रमणीय दृश्य का करुण अवसान ही था।[12] महर्षि वाल्मीकि की कृति में प्रकृति की व्यापक योजना मिलती है, जिसमें मानवीय दृष्टिकोण की अपेक्षा प्रकृति को प्रमुखता दी गई है। प्रकृति के सभी पक्षों के साथ कवि के हृदय का तादात्म्य दृष्टिगोचर होता है, जिसका उन्होंने आलम्बनगत चित्रण प्रचुर मात्रा में किया है। सामान्य तथा व्यापक विशेषताओं के आधार पर वन, नदी, पर्वत, सरोवर आदि का वातावरण प्रस्तुत कर दिया गया है। विश्वामित्र के साथ जाते हुए राम जिस वनपथ से जा रहे हैं, उसका वर्णन करते हुए महर्षि वाल्मीकि जी लिखते हैं कि भीषण पशुओं से व्याप्त, पक्षियों की भयानक ध्वनियों से परिपूर्ण, नाना प्रकार के डरावने शब्द करके बोलते हुए पक्षियों, सिंहों, बाघों, वराहों तथा हाथियों से शोभित, ऑकर्ण, ककुभ, बिल्व, तिन्दुक, पाटल एवं बेर के वृक्षों से भरा हुआ यह कौन–सा भयानक वन है।[13]

चित्रकूट के प्राकृतिक सौन्दर्य को देखकर राम उल्लास से ओत–प्रोत हो जाते हैं तथा लक्ष्मण से कहते हैं, हे सौम्य! पुष्पित वृक्षों से आवृत्त, हंसों एवं कारण्डवों से व्याप्त तथा समीपस्थ चक्रवाकों से सुशोभित होने वाली यह गोदावरी नदी है। न ही अत्यन्त दूर और न ही अत्यन्त निकट, ये सुन्दर पर्वत दृष्टिगोचर हो रहे हैं, जो मृगयूथों तथा मयूरों की केकाध्वनि से युक्त होने के कारण अत्यन्त रमणीय प्रतीत हो रहे हैं, जिनमें अनेक चौड़ी कन्दराएँ हैं तथा जो खिले हुए वृक्षों से आच्छन्न हैं।[14]

आदिकवि महर्षि वाल्मीकि ने ऋतुओं का भी अत्यन्त यथार्थ एवं रसमय चित्रण किया है, जो उत्तरकालीन कवियों की आरोप अथवा उद्दीपन की भावना से सर्वथा मुक्त है। वर्षा, वसन्त एवं हेमन्त के चित्रण को अत्यन्त सहृदयसंवेद्य बनाते हुए वाल्मीकि जी लिखते हैं कि वर्षाकाल में सर्ज और कदम्ब पुष्पों से युक्त, मयूर की केकाध्वनि से निनादित, पर्वत से निकलने वाली नदी का गैरिक जल शीघ्रता से प्रवाहित हो रहा है। भ्रमर जैसी काली, रसीली जामुनों का आनन्द लिया जा रहा है। पवन से आन्दोलित अनेक वर्णों के पके आम पृथ्वी पर गिर रहे हैं, पत्तियों की नोकों पर लगी हुई इन्द्र द्वारा प्रदत्त, मोती जैसी जलबिन्दुओं को तृषातुर एवम् अस्त–व्यस्त पंखों वाले पक्षी प्रसन्न होकर पी रहे हैं।[15]

उपर्युक्त वर्णन कवि के सूक्ष्म प्रकृति–पर्यवेक्षण का सुन्दर उदाहरण है। वर्षा के प्रत्येक पक्ष पर कवि का ध्यान गया है और उसकी संश्लिष्ट योजना से वर्षावर्णन एक लघुकाव्य–सा प्रतीत होता है। प्रकृति के एक चित्र को अपर चित्र से उद्भासित करने की चेष्टा 'रामायण' में की गई है। महाकवि ने मानवीय सम्बन्धों में भी प्रकृतिचित्रण किया है। रावण से अपहृत सीता जिस समय जनस्थान के वृक्षों से राम को सीताहरण की सूचना देने की प्रार्थना करती है, उस समय प्रकृति भी सहानुभूति से भर उठती है।[16]

मानवहृदय और प्रकृति की पारस्परिक क्रियाओं एवं प्रतिक्रियाओं का मोहक चित्रण भी 'रामायण' में सम्पन्न हुआ है। प्रकृति के उद्दीपनरूप में किष्किन्धाकाण्ड का शरद्वर्णन यद्यपि प्रकृतिवर्णन की दृष्टि से पूर्ण है, तथापि उसके वहाँ होने का मुख्य कारण राम के पत्नीविरह को उद्भासित करना ही है। यही कारण है कि उक्त वर्णन श्रृंगार से अनुप्राणित है। प्रकृति का सहज सौन्दर्य सीताहरण के पूर्व यदि राम, सीता और लक्ष्मण के उल्लास का कारण बना है, तो दुःख की स्थिति में उन्हें शान्ति भी प्रदान करता है।[17] प्रकृति के माध्यम से वाल्मीकि ने जीवन के अनेक तथ्यों का रहस्योद्घाटन किया है, यथा– जिस प्रकार पके हुए फलों को टूट कर गिर जाने के अतिरिक्त अन्य कोई भय नही होता, उसी प्रकार जन्म लेने वाले मनुष्य को मृत्यु के अतिरिक्त कोई अन्य भय नहीं होता है।[18] इन संश्लिष्ट वर्णनों की स्वाभाविक योजना को आदर्श रूप देने के लिए ही महर्षि वाल्मीकि ने सौन्दर्यसादृश्य एवं प्रभावसाम्य के आधार पर इनका प्रयोग किया है।

महाकवि कालिदास कृत 'मेघदूतम्' को, रामायण में वर्णित हनुमान को दूत बनाकर लंका भेजे जाने के आख्यान से प्रेरणा ग्रहण करते हुए ब्रह्मवैवर्तपुराण से इतिवृत्त का चयन करके यत्र–तत्र मौलिक कविकल्पना से लोकोत्तर स्वरूप प्रदान किया गया है। उपमान के रूप में महाकवि कालिदास ने प्रकृति का निर्बाध प्रयोग किया है, किन्तु वैचित्र्य लाने के निमित्त नहीं, अपितु सौन्दर्यसादृश्य एवं प्रभावसाम्य के के लिए तथा संश्लिष्ट वर्णनों की योजना को आदर्श रूप देने के लिए ही इनका प्रयोग किया गया है।

'विक्रमोर्वशीयम्' में उर्वशी के विरह में संतप्त पुरुरवा का विलाप तथा पशु–पक्षियों एवं लताओं से उर्वशी के सन्दर्भ में किया गया प्रलाप 'रामायण' के नायक श्रीराम की याद दिलाता है। सम्भवतः इस योजना की प्रेरणा कालिदास जी ने रामायण से ही प्राप्त की है।

'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में आश्रमधर्म के प्रतिकूल आचरण करने वाली शकुन्तला को कालिदास ने जिस प्रकार दण्डित किया है तथा जिस प्रकार दुष्यन्त को प्रायश्चित्त की अग्नि में तपाकर शुद्ध किया है, उसी प्रकार महर्षि वाल्मीकि द्वारा 'सीता' जो राम–वनगमन के समय अपने सास, श्वसुर एवं पति के परामर्श को न मानती हुयी, श्रीराम के साथ वन जाने पर दण्डित होती है तथा राज्याभिषेक के बाद सीता–निर्वासनजन्य दुःख से श्रीराम प्रायश्चित्त की दावाग्नि में संतप्त होते हैं।

इस प्रकार वैदिक साहित्य से लेकर रामायण, महाभारत और रघुवंशादिक साहित्यिक सम्पदाओं पर्यंत विस्तीर्ण सर्वत्र साहित्य में प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों के दर्शन होते हैं, किन्तु कहीं भी ऋषियों, आर्षकवियों या महाकवियों ने प्रकृति से सम्बन्ध–विच्छेद नहीं किया है। यद्यपि साहित्य की मूलप्रवृत्ति और उद्देश्य के साथ प्रकृति के प्रति कवि का दृष्टिकोण बदलता गया है, फिर भी संस्कृत कवियों के लिए प्रकृति शोभन, रम्य एवं स्फूर्तिप्रद ही रही है। प्राकृतिक शक्ति के रूप में उसे मानव का प्रतिपक्ष भले ही कह दिया जाय, किन्तु साहित्य में समाविष्ट 'प्रकृति' मानव–सहचरी ही रही है।

सन्दर्भ (Reference)

1. मा निषाद प्रतिष्ठान्त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
   यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।। रामायण।। 1.2.15।।
2. संध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः।
   प्रातर्मध्यंमृगयाशैलर्तुवन–सागराः ।। साहित्यदर्पण।। 6. 322।।
   नगरार्णवशैलर्तु–चन्द्रार्कोदय–वर्णनैः।
   उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवैः।। काव्यदर्श।। 1.16।।
3. तटस्थाश्चन्द्रिका–धारागृह–चन्द्रोदयावपि।
   कोकिलालापमाक्रन्दमन्दमारुतषट्पदाः ।।
   लतामण्डप–भूगेह–दीर्घिका–जलदारवाः।
   प्रासादगर्भ–संगीत–क्रीडाद्रि–सरिदादयः।। रसार्णवसार, पृष्ठ 188–89।।
4. श्यामास्वंगं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं,
   वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
   उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्,
   हन्तैकस्मिन्क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति।। मेघदूत।। 2. 46।।
5. काव्यमीमांसा।। अध्याय।। 18।।
6. प्रवाता वान्ति पतयन्ति विद्युत उदोषधीर्जिहते पिन्वते स्वः।
   इरा विश्वस्मै भुवनाय जायते यत्पर्जन्यः पृथिवीं रेतसावति।। ऋग्वेद, 5. 83. 4।।
7. ऋग्वेद।। 1. 48. 5।।
8. महाभारत।। 3.39.17–19।।
9. निकुंजान्पक्षिसंघुष्टान्दरीश्चाद्भुतदर्शनः। नदीः सरांसि वापी□ विविधां□ मृगद्विजान्।
   सा बहून्भीमरूपां□ पिशाचोरगराक्षसान्। पल्वलानि तडागानि गिरिकूटानि सर्वशः।। महाभारत।। 3.61.6–7।।
10. महाभारत।। 3. 41. 7–9।।
11. महाभारत।। 3. 69।।
12. रामायण।। 1.2.15–18।।
13. अहो वनमिदं दुर्गं झिल्लिकागणसंयुतम्। भैरवैः श्वापदैः कीर्णं शकुन्तैर्दारुणारवैः।।
    नानाप्रकारैः शकुनैर्वाश्यद्भिर्भैरवस्वनैः। सिंहव्याघ्रवराहैश्च□ वारणैश्चापि शोभितम्।।
    धवाश्वकर्णककुभैर्बिल्वतिन्दुकपाटलैः। संकीर्णं बदरीभिश्च□ किंन्विदं दारुणं वनम्।। रामायण।। 1.24.13–16।।
14. इयं गोदावरी रम्या पुष्पितैस्तरुभिर्वृता। हंस–कारण्डवाकीर्णा चक्रवाकोपशोभिता।।
    नातिदूरे न चासन्ने मृगयूथनिपीडिता। मयूरनादिता रम्याः प्राशवो बहुकन्दराः।।
    दृश्यन्ते गिरयः सौम्य फुल्लैस्तरुभिरावृताः।। रामायण।। 3.15.12–14।।
15. व्यामिश्रितं सर्जकदम्बपुष्पैर्नवं जलं पर्वतधातुताम्रम्।
    मयूरकेकाभिरनुप्रयातं शैलापगाः शीघ्रतरं वहन्ति।।
    रसाकुलं षट्पदसन्निकाशं प्रमुच्यते जम्बुफलं प्रकामम्।
    अनेकवर्णं पवनावधूतं भूमौ पतत्याम्रफलं विपक्वम्।।
    मुक्तासमाभं सलिलं पतद्वै सुनिर्मलं पत्रपुटेषु लग्नम्।
    हृष्टा विवर्णच्छदना विहंगाः सुरेन्द्रदत्त तृषिताः पिबन्ति।। रामायण।। 4. 28. 18–19, 35।।
16. रामायण।। 3. 52. 34–35।।
17. रामायण।। 4. 30. 27–37।।
18. यथा फलानां पक्वानां नान्यत्र पतनाद् भयम्।
    एवं नरस्य जातस्य नान्यत्र मरणद् भयम्।। रामायण।। 2. 105. 17।।

JETIR